

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और आदिवासी आंदोलन में अंतर्संबंध

डॉ० शत्रुघ्न कुमार पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, संत कोलम्बस कॉलेज, हजारीबाग

सारांश

भारतीय इतिहास लेखन में झारखंडी आदिवासी चरित्र और उनका दर्शन प्रायः गौण रहा है। इसका कारण उनके बारे में दस्तावेजी-प्रमाण की अनुपलब्धता और इतिहास लेखन में लौकिक परम्पराओं को महत्व न देना है। परन्तु वास्तव में झारखंड के आदिवासी नेताओं ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ जो प्रतिरोध किया, उसका महत्व सार्वकालिक है। उसके दर्शन के कई तत्वों को गाँधीजी जैसे नेताओं ने आत्मसात् किया और उसके सहारे राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाया। कई तत्व भारत के संविधान में शामिल किये गये। प्रस्तुत आलेख में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में झारखंड के आदिवासी विद्रोह के दर्शन के कई अनछुए पहलुओं की पड़ताल की गयी है, जिसके कारण राष्ट्रीय आंदोलन को दिशा और गति मिली और दोनों में अंतर्संबंध स्थापित हुए। इस आलेख में क्षेत्रीय और राष्ट्रीय फलक के तत्वों के अंतर्संबंधों को भी दर्शाने का प्रयास किया गया है।

विशिष्ट शब्द : औपनिवेशिक, बेगार, हूल, उलगुलान, जल-जंगल-जमीन।

भूमिका :

भारतीय इतिहास के पाठ्य-पुस्तकों से झारखंड के आदिवासी जन-नायक प्रायः गायब रहे हैं या उनकी आंशिक चर्चा मिलती है। यहाँ इतिहास का क्षेत्र इन्द्रप्रस्थ से लेकर पाटलिपुत्र तक ही माना जाता रहा है। झारखंड जैसे वन-प्रांत और उसमें अपनी मेहनत से बसा आदिवासी चरित्र सदैव से इतिहास में उपेक्षित रहे हैं। इनका अध्ययन भी किया गया तो किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए। नृत्वशास्त्री जहाँ आदिवासियों को 'अनोखी दुनिया का वासी' समझ कर अध्ययन करते थे, वहीं ब्रिटिश प्रशासकों ने अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति के लिए इनके बारे में लिखा। औपनिवेशिक सत्ता से संरक्षण प्राप्त ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के क्रम में इनके योगदान एवं दर्शन पर प्रकाश डाला, जो 'इवेंजिकल और मिशन सिविलाइजेशन' के वाद से ग्रसित है। आजादी के बाद उत्तर-आधुनिकतावादी, नव-कैम्ब्रिजवादी, प्रगतिशीलवादी, राष्ट्रवादी और उपाश्रयवादियों ने भी इनकी भूमिका, प्रतिरोध एवं स्व-जागरण को बहुत महत्व नहीं दिया और मात्र जिक्र करके छोड़ दिया।²

साम्राज्यवादी इतिहासकार सीले, रिजले, हंटर, विल्सन एवं एलिफिन्स्टन ने तो स्पष्ट लिखा है कि झारखंड के आदिवासी प्रतिरोध और स्व जागरण का उभार क्षेत्रीय एवं सीमित दायरे वाला था। राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत के स्वतंत्रता संग्राम से इनका कोई प्रत्यक्ष जुड़ाव कभी भी नहीं था। 1855 के सथाल हूल एवं 1857 के स्वातंत्र्य समर के

बीच के अंतर्संबंध को साम्राज्यवादी इतिहासकार स्वीकार ही नहीं करते और दोनों को अलग-अलग करके देखते हैं। उनकी ओर से तर्क यह दिया जाता रहा है कि झारखंडी आदिवासी चरित्र तथा उनका प्रतिरोध एवं स्व जागरण, विविधतावादी, भौगोलिक रूप से अलगाव में रहनेवाली एवं स्वयं की रीति-रिवाज तक सीमित रहने वाला रहा है, अतः इसका भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्य धारा से प्रत्यक्ष जुड़ाव कैसे हो सकता है? झारखंड का जनजातीय प्रतिरोध ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ नहीं था, वह तो उन देशी तत्वों के खिलाफ था, जो उनका शोषण कर रहा था। जनजातियों की मुख्य मांग जल, जंगल और जमीन से जुड़े उनके अधिकार के रक्षार्थ थे। इनसे जुड़ी समस्याओं के समाधान के साथ ही उनके आंदोलन समाप्त हो जाते थे। ऐसे में उनके प्रतिरोध की प्रकृति कहीं से भी भी राष्ट्रीय नहीं थी और न ही उनमें राष्ट्रीयता के तत्व ही थे। आदिवासी तो 'राष्ट्रवाद' शब्द को जानते तक नहीं थे। उनकी दुनिया तो उनके स्वयं के परिवेश, भुईहरी एवं खुटकट्टी तक ही सीमित थी।

ए० बी० बर्द्धन जैसे इतिहासकार साम्राज्यवादी इतिहासकारों के तर्क को नकारते हैं और इससे अपनी असहमति जताते हैं। उनका तर्क है कि अपने स्वार्थ के कारण इस प्रकार के तर्क को औपनिवेशिक चरित्र (अंग्रेजों) ने स्वयं द्वारा पोषित साम्राज्यवादी इतिहासकारों के माध्यम से गढ़वाया है। जनजातियों की असीम ऊर्जा शक्ति भारत

के राष्ट्रीय आंदोलन में न लगे, इसके लिए 1860 के बाद अंग्रेजों ने वैरियर एल्विन की 'नेज़नल पार्क थ्योरी' का संदर्भ जनजातियों पर लागू किया। कुछ इसी प्रकार का प्रयोग अमेरिका में रेड इंडियन्स में मामलों में भी अंग्रेजों ने लागू किया था। उन्हें भी भाषा, धर्म एवं संस्कृति के नाम पर राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग कर क्षेत्र विशेष की काल कोठरी में बंद कर एक बंद व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया।¹³

सुमित सरकार ने लिखा है कि 1870-80 के दशक में औपनिवेशिक सरकार द्वारा राजस्व की दृष्टि से वन क्षेत्रों पर जटिल नियंत्रण लागू किया गया। 1867 से आरक्षित वनों में झूम खेती को प्रतिबंधित और सीमित कर दिया गया। चराई पर रोक लगा कर वन सम्पत्ति पर सरकार ने एकाधिकार करके आदिवासियों की जीविका को छीन लिया।¹⁴ इसका प्रतिरोध क्षेत्रीय नहीं हो सकता। इसे व्यापक परिपेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। इसके विरुद्ध आदिवासियों की विद्रोह हिंसक हुआ और इससे आंतरिक एवं धार्मिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए। विद्रोह और उसके मुखर अभिव्यक्ति के पीछे की मूल चेतना आदिवासी प्रतिरोध एवं स्व का जागरण ही था।

विषय विश्लेषण:

23 अक्टूबर 1764 के बक्सर विजय के मात्र दो वर्ष बाद जैसे ही ईस्ट इंडिया कंपनी ने इलाहाबाद की संधि 12 अगस्त 1765 को आधार मान कर झारखंड क्षेत्र पर अपनी औपनिवेशिक नीतियों को थोपना शुरू किया, उसे जनजातीय विद्रोहों की एक लम्बी श्रृंखला का सामना करना पड़ा। पहाड़िया, चैरो, कोल, खरवार, मुंडा, उरांव लगभग सभी आदिवासियों ने कई बार कंपनी के मनसूबों पर पानी फेरा। झारखंड के आदिवासियों एवं उनके समर्थकों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में किसी भी समुदाय की तुलना में ज्यादा स्पष्ट, मुखर, हिंसक और स्पष्ट विचारधारा से लबरेज क्रांति का बिगुल बजाया।¹⁵ इस कारण कंपनी के अधिकारियों के लिए यह जरूरी था कि वह आदिवासी क्षेत्र को अन्य लोगों के लिए निशि क्षेत्र घोषित करें और उनकी पूरी व्यवस्था को बंद-व्यवस्था में तब्दील कर उसके ऊपर पहरा लगा दें।¹⁶

प्रमुख नारे और उनके दर्शन

1855 के संथाल हूल के दौरान नारा लगा था, 'जुमीदार, महाजोन, पुलिस आर राजनेन आमलो कि जुगुकामा' अर्थात् जमींदार, महाजन, पुलिस और राजा (ब्रिटेन की

महारानी) का नाश हो।¹⁶ हूल संथाली भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है क्रांति या सम्पूर्ण बदलाव। स्वशासन, स्वावलम्बन, स्वाभिमान, मानव की गरिमा और समतामूलक समाज की स्थापना के लिए संथाल नेता सिदो के आह्वान पर साहेबगंज जिले के बड़हैत थाना के भोगनाडीह गांव से 30 जून 1855 को हूल की शुरुआत हुई थी।¹⁷ दूसरी ओर इसी समय 1857 की क्रांति का मशाल जला था, जिसमें नारा लगा था, 'खल्लू खुदा का, मुल्क बादशाह का, आदेश फौज के बड़े हुक्मरान का'।¹⁸ इन दोनों नारों की तुलना की जाये तो स्पष्ट है कि 1857 की क्रांति के नारे में जहाँ सामंती तत्वों का समावेश दिखता है और एक संगठित शक्ति का बोध होता है, वहीं संथाल हूल के नारे में शोषक तत्वों के खात्मे का संदेश छुपा हुआ है। हालांकि दोनों का उद्देश्य करीब-करीब समान ही थे। दोनों भारत से ब्रिटिश सत्ता और उनके समर्थकों का खात्मा चाहते थे और उसके लिए हिंसक तत्वों से भी उन्हें गुरेज नहीं था।

इस हूल के दौरान चार सहोदर भाइयों एवं दो बहनों ने 'मास मोबेलाइर' की भूमिका को निभाते हुए संथाल क्षेत्र के आदिवासी और गैर-आदिवासी दोनों को संगठित किया और उन्हें सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार कराया। डब्ल्यू0 डब्ल्यू0 हंटर ने लिखा है कि सिदो और कान्हु का आविर्भाव अपने देशवासियों के उद्धारक के रूप में हुआ।¹⁹ भागलपुर के कमिश्नर ने 22 जुलाई 1855 को बंगाल के सचिव को लिखा, "हर प्रकार से ऐसा लगता है कि तेली, ग्वाला और अन्य जातियाँ संथालों का नेतृत्व कर रही हैं। ये लोग उनको बुद्धि देते हैं, उनके ढोल बजाते हैं, उनकी कार्यवाहियों का संचालन करते हैं और उनके लिए जासूसी भी करते हैं।"²⁰ इतिहास में संभवतः यह पहला उदाहरण है, जब सहोदर चार भाइयों एवं दो बहनों ने किसी क्रांति का नेतृत्व किया। अपने स्वयं की शासन व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने परम्परागत हथियारों से औपनिवेशिक सत्ता से मुकाबला किया, जिसकी अनुगूँज लंदन तक पहुँची और कार्ल मार्क्स को इस पर टिप्पणी करनी पड़ी। परन्तु वे पराजित हो गये और उनका सपना साकार हुए बिना दफन हो गया।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वामपंथी स्वरूप 1920 के दशक में सामने आया, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब उससे करीब 65 वर्ष पूर्व संथाल हूल में दिख जाता है। हालांकि कांग्रेस के वामपंथी तत्वों की व्याख्या पंडित जवाहर लाल नेहरू पर सोवियत संघ

एवं मार्क्स-लेनिन के प्रभाव के रूप में किया जाता है। यही नहीं, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के किसान आंदोलन के प्रेरक तत्व भी संथाल हूल एवं सरदारी आंदोलन में दिख जाते हैं। संथाल हूल की प्रतिध्वनि तो 1860 के नील आंदोलन, 1873 के पाबना एवं बोगरा विद्रोह तथा 1875-76 के पूना और अहमदाबाद के मराठा कृषकों के सशस्त्र विद्रोहों में सुनी जा सकती है। संथाल हूल के माध्यम से संथाल अत्याचारों से मुक्त होकर स्वाधीन एवं सुखी समाज स्थापना करना चाहते थे और किसान आंदोलन का मूल लक्ष्य भी यही था।

प्रायः यह भी माना जाता है कि संतालों में किसान आंदोलन की तरह राष्ट्रीय चेतना का अभाव था, परन्तु उन्होंने अपने दोस्त और दुश्मनों को पहचानने में कोई गलती नहीं की। अपने हूल के दौरान उन्होंने औपनिवेशिक सत्ता के आधार स्तम्भों को निशाना बनाया एवं समाज के शोषित एवं वंचित लोगों को अपना दोस्त माना। उन्होंने उत्पीड़कों पर प्रकार किया और उत्पीड़ित को अपना माना।¹¹ उनकी यह चेतना बाद के भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के कांग्रेस के समाजवादी दर्शन में देखने को मिलता है। इसके अलावा स्वशासन की स्थापना के लिए हूल के दौरान जो सभा बुलायी गयी थी, उसमें सभी के घर से एक-एक सदस्यों को आमंत्रित किया गया था। संथानों की एकता के लिए साल वृक्ष की टहनी प्रत्येक गांवों में घुमायी गयी थी और कहा गया था कि 'मरांग बुरु' और 'जाहेर एरा' ने संथालों को संगठित कर अपना राज्य स्थापित करने का संदेश दिया है।¹² उनकी इस प्रकार की सोच सत्ता के आज के लोकतंत्र के केन्द्र में स्थित शासन के विकेन्द्रीकरण की आधुनिक प्रवृत्ति का वाहक दिखता है, जिसमें सबकी सहभागिता के सिद्धांत पर कार्य होता है। संथाल हूल के तत्व बताते हैं कि उन तत्वों को सत्ता से च्युत कर देना चाहिए जो जनता की भावनाओं के विपरीत कार्य करता है।

जनजातीय भू-चरित्र बताता है कि जमीन तब तक नहीं जोती जानी चाहिए, जब तक कि पूर्वजों की मौन स्वीकृति प्राप्त न हो जाये। सांस्कृतिक, आर्थिक एवं भावनात्मक लगाव के साथ 'स्व' की संस्कृति की रक्षा के अवधारणा की इस प्रतिपूर्ति के आधार पर ही आगे का भूमि-आंदोलन खड़ा हुआ था।

1870 के दशक का खेरवाड़ या सफाहोड़ आंदोलन एकेश्वरवाद एवं सामाजिक सुधार की शिक्षा देता है, किन्तु

अपने दमन के ठीक पूर्व राजस्व बंदोबस्ती के खिलाफ एक अभियान के रूप ले लेता है।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के फलक पर महात्मा गाँधी का अवतरण 1915 में हुआ और उन्होंने 27 वर्ष बाद 1942 की अगस्त क्रांति के दौरान नारा दिया, 'अंग्रेजों भारत छोड़ो'। लेकिन गाँधीजी से करीब 50 वर्ष पहले झारखंड की धरती पर 'धरती आबा' (धरती का पिता)¹³ बिरसा मुंडा ने 1895 में डोम्बारी पहाड़ी से कहा था, 'गोरो! अपने देश वापस जाओ'।¹⁴ उन्होंने यह भी कहा था कि जब तक यूरोपियन, अफसर और मिशनरी वापस नहीं जायेंगे, अबुआ राज स्थापित नहीं होगा। बिरसा ने यह भी कहा था, 'साहब-साहब एक ही टोपी का है'।¹⁵ उन्होंने यह भी कहा था कि पहले अपनी ताकत बढ़ाओ, फिर मैदान में कूदो।¹⁶

बिरसा मुंडा द्वारा दिये गये इन नारों के निहितार्थ का फलक काफी विस्तृत है। एक तरफ यह औपनिवेशिक शासन के कारण भारत की दुर्दशा के कारणों की स्पष्ट पहचान करवाता है और उलगुलान (सम्पूर्ण क्रांति) की बात करता है, वहीं दूसरी ओर यह उन शोषक तत्वों को भी नेस्तनाबूद करने का लक्ष्य निर्धारित करता जो आदिवासी अस्मिता और स्वतंत्रता के बाधक थे। बिरसा के उलगुलान ने बेट-बेगारी की प्रथा को समाप्त करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जिसका प्रतिरूप हमें भारत के संविधान के मौलिक अधिकार में दिखता है, जिसमें बलात् श्रम को निषिद्ध किया गया है और नागरिकों के अपने श्रम के संरक्षण का बाध्यकारी अधिकार प्रदान किया गया है।

महात्मा गाँधी ने राजनीतिक शुचिता और सत्यता के लिए राजनीति में धर्म को अनिवार्य मानते थे। बिरसा मुंडा ने भी अपने आंदोलन में एकेश्वरवाद एवं नैतिक मूल्यों को समाहित किया। आत्म सुधार एवं आचरण की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया। बिरसा ने बलात् उपदेश नहीं दिया और न किसी पंथ की स्थापना के लिए उन्होंने उपदेशक की भूमिका निभायी, बल्कि मिशनरियों के धर्म-प्रचार के विपरीत उन्होंने स्वेच्छा से लोगों को उनसे जुड़ने के लिए कहा।¹⁷ उन्होंने किसानों से आह्वान किया था कि लगान मत दो और पूर्णतः लगानबंदी लागू करो। बिरसा के दर्शन का लगानबंदी का तत्व दो दशक बाद गाँधीजी के चंपारण सत्याग्रह (1917) और खेड़ा आंदोलन (1918) में दिखता है।

आंदोलन का स्त्री पक्ष

झारखंड में हुए आदिवासी आंदोलन का एक प्रमुख

तत्व उसका स्त्री-पक्ष है। प्रायः सभी आंदोलनों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही है और वह पुरुषों के साथ कंधा-से-कंधा मिला कर चली हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान स्वेदशी आंदोलन में पहली बार बड़े पैमाने पर महिलाएँ घर की डयोढ़ि को पार करके आंदोलन में सक्रिय हुई थी। 1832 के महान् कोल विद्रोह का तात्कालिक कारण महिला उत्पीड़न था। महिला की अस्मिता की रक्षा के लिए कोलों ने शस्त्र उठाया था। कोल क्षेत्र में जब बाहर से आये ठेकेदारों ने महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार किया तो विद्रोह सुलग उठा। घटना यह है कि कुछ महिलाएँ सोनपुर परगना में लोहा बेचने के लिए प्रायः जाती रहती थी। उन्हें दाम कम दिया जाता था और अपमानित भी किया जाता था। इनमें सिंगराई मानकी की दो बहनें भी थी। इन दोनों को काफी बेइज्जत किया गया था।¹⁸ बंदगांव के सूर्या मुंडा की पत्नी का अपहरण करके उसका शील भंग ठेकेदारों ने कर दिया था।¹⁹ इस प्रकार महिला हितार्थ एवं रक्षार्थ झारखंडी जनजातियाँ खड़ी हो गयीं।²⁰ समता के अधिकार की भावना के साथ महिला हितों की रक्षा की गयी। आदिवासी आंदोलन यह तत्व भारत के संविधान में दिखता है, जहाँ महिला और पुरुष की समानता एवं समता के अधिकार के प्रावधान रखे गये।

1855 के संधाल हूल की दो महत्वपूर्ण नेता फूलो और झानो थी। दोनों हूल के लिए जासूसी करती थी। अंग्रेजी सेना के साथ युद्ध के बाद जो संधाल घायल हो गये थे, दोनों उनका उपचार भी करती थी। साथ ही जरूरी संसाधन भी वे छुपे क्रांतिकारी संधाल सेनानियों को उपलब्ध कराती थी। हूल के 90 वर्ष बाद जब आजाद हिन्द फौज की महिला ब्रिगेड का गठन हुआ, तो घायल सेनानियों का इसी प्रकार से सेवा की गयी। अंततः फूलो और झानो को गिरफ्तार कर लिया गया और दोनों को उनके भाइयों सिदो, कान्हू, चाँद और भैरव के समान ही फाँसी की सजा दे दी गयी। अपनी गिरफ्तारी से पूर्व दोनों ने सैनिकों का वेश धारण किया हुआ था और मुठभेड़ में अंग्रेजी सेना की ओर से लड़ रहे 21 सिपाहियों को मौत के घाट उतार दिया था।²¹

हिन्दुस्तान सोसलिस्ट रिपब्लिक एसोसिएशन तथा मास्टर दा सूर्यसेन की नेतृत्व वाली इंडियन रिवाल्व्यूशनरी आर्मी में 1920 के दशक में क्रांतिकारी महिला दस्ता बनाया गया था, जिसमें दुर्गा, प्रीतिलता वाडेकर, कल्पना दत्ता आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाया। इस प्रकार की क्रांतिकारी महिला दस्ते के गठन से करीब 30 वर्ष पूर्व

बिरसा के उलगुलान में क्रांतिकारी महिलाओं का दस्ता था, जिसका नेतृत्व मकी मुंडा करती थी। यह दस्ता बिरसा का दायां हाथ माना जाता था। इस दस्ते के प्रमुख सदस्यों में थीगी, नागी, लेम्बु, साली, चंपी, बमकन मुंडा की पत्नी, मंझिला मुंडा की पत्नी, दुंगुडुंग मुण्डा की पत्नी आदि थी।²² यह दस्ता रात में बैठक करता था और अपनी रणनीति तय करता था और भारत से औपनिवेशिक सत्ता के खात्मे के लिए कार्य किया।

बिरसा उलगुलान में सक्रियता के कारण जिन तीन लोगों को मृत्युदंड एवं 44 लोगों को कालापानी की सजा एवं 47 लोगों को कड़ी सजा दी गयी थी, उनमें कई महिलाएँ शामिल थी, जिसमें सर्वप्रमुख मकी मुंडा थी। मकी को दो वर्ष की कठोर सजा दी गयी थी। उस पर आरोप तय किया गया था कि उसने डिप्टी कमिश्नर पर आक्रमण करने वाले दल का नेतृत्व किया था और उसमें इसकी अत्यंत सक्रिय भागेदारी थी।²³

टाना भगत आंदोलन के नेता जतरा टाना भगत की मौत के देहांत के बाद उसकी पत्नी देवमुनी/बंधनी ने करीब दो दशक तक आंदोलन का मशाल जलाये रखा। सुदेशना बसु ने अपनी पुस्तक 'प्रेजेंट रेजिस्टेंस' पर विस्तार से प्रकाश डाला है।²⁴

यह आश्चर्य लगता है कि अखिल भारतीय किसान आंदोलन में जिन तत्वों का समावेश 1930 के दशक में दिखता है, वे सारे तत्व 19वीं शताब्दी के जनजातीय आंदोलन में समाहित थे। जल, जंगल और जमीन के अधिकार के लिए आदिवासी नेताओं ने जो दर्शन दिये वह आगे चल कर भारतीय किसान आंदोलन के अधारभूत तत्व बने। साहूकारों का खात्मा, जमींदारों के अत्याचार को नहीं सहना और करबंदी आंदोलन चलाना, प्रशासन के भ्रष्ट तंत्र पर हमला, जमीन पर अपने हक की दावेदारी, जमीन के लिए आंदोलन खास कर संगठित होना, सभा बुलाना, अर्जी देना, बहुमत के आधार पर निर्णय लेना आदि। जनजातियों के आंदोलन में शिकार शोषक एवं दिक् तत्व और उनके संरक्षक बने, कारीगर, शिल्पी आदि कमजोर गैर-आदिवासी कभी भी नहीं बने।²⁵

छोटानागपुर की धरती पर 40 सालों तक चले सरदार आंदोलन या मुल्की लड़ाई (भूमि अधिकार के लिए लड़ाई) को 20वीं सदी के किसान आंदोलन का अगुआ माना जा सकता है। इस आंदोलन से जुड़े नेता जो मुख्यतः मुंडा-मानकी थे और जिसे 'सरदार को' कहा जाता

था, ने अपनी भूमि पर पुनः अधिकार पाने के लिए वह सब कुछ किया, जो आज के लोकतांत्रिक देश के किसानों द्वारा किया जाता है। सरदारी लड़ाई किसानों का चरणबद्ध आंदोलन था और इसका प्रत्येक चरण किसानों के अपने अधिकार पाने की उत्तरोत्तर लालसा को व्यक्त करता था। इस आंदोलन का सबसे दिलचस्प पहलू किसानों की कानूनी लड़ाई, उनके साथ हुई धोखाधड़ी और इसे दूर करने वाले आध्यात्मिकता का पुट था। आंदोलन का अपना सिद्धांत, विचारधारा, कार्यक्रम और संगठन था। इसी के सहारे आंदोलन 40 वर्षों का लंबा सफर तय कर पाया। किसानों ने चंदा एकत्र किया और कलकत्ता से लेकर लंदन तक अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए संघर्ष किया और सरकार को ज्ञापन दिया। इस आंदोलन में सहयोग प्रदान नहीं करने वाले मुंडाओं का सामाजिक बहिष्कार किया गया। यह आश्चर्य लगता है कि उत्तर प्रदेश के 20वीं सदी के तीसरे दशक के किसान आंदोलन में 'नाई-धोबी बंद' जैसे सामाजिक बहिष्कार की बातें सामने आती हैं, परन्तु उससे 70 वर्ष पूर्व सरदारों ने इस प्रकार के कदम उठा लिये थे। आंदोलन ने सरकार को काश्तकारी कानून बनाने और दीकुओं द्वारा रैयतों का शोषण करने वाली विभिन्न कुप्रथाओं को रोकने के लिए विवश किया। आंदोलन ने अपने स्वर्णिम अतीत से सीख ली और ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्ति करने की मांग की।²⁶ कुमार सुरेश सिंह ने लिखा है कि आदिवासी आंदोलन ने झारखंड के प्रतिरोधात्मक एवं स्वातंत्र्य आंदोलन को एक नया मंच एवं बल दिया। इस प्रकार का आंदोलन क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आंदोलन प्रथम मद्दिम सा स्पंदन था।²⁷

बिरसा एवं उनके अनुयायियों, सरदारों, पलामू के चरो वंशधर, कोल्हान के हो, संधाल, हजारीबाग और मानभूम के भूमिज ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश शासन के विरोध की जो दीपशिख प्रज्वलित की थी, वह महात्मा गाँधी के एक वृहद् राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में विकसित हुई। वस्तुतः महात्मा गाँधी द्वारा अहिंसा एवं सत्याग्रह के प्रयोग से बहुत पहले छोटानागपुर में आदिवासी अपने आंदोलन के दौरान सरकार, मिशनरियों, साहूकारों एवं जमींदारों के खिलाफ इस अस्त्र का प्रयोग कर चुके थे।²⁸ हालांकि राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस के उभार के बाद आदिवासी आंदोलन को नयी दिशा और ऊर्जा मिली एवं कांग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने बड़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

जून 1917 में महात्मा गाँधी जब राँची पधारे, तो टाना भगतों ने उनके साथ सहृदयता से बात की और राष्ट्रीय आंदोलन में स्वयं को समर्पित कर दिया। गाँधीजी के असहयोग एवं नमक आंदोलन में आदिवासी नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। 1920 में आदिवासियों के शोषण के खिलाफ लोकतांत्रिक ढंग से पहली संवैधानिक लड़ाई के लिए छोटानागपुर उन्नति समाज का गठन किया गया था। समाज ने 'आदिवासी' नामक पत्रिका भी निकाला ताकि छोटानागपुर की आदिवासी चेतना को राष्ट्रीय मंच पर लाया जा सके एवं उसे राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ा जा सके। किसानों को संगठित करने एवं उनमें जागरूकता लाने के लिए सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में किसान सभा का 1931 में गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष ठेबले उरांव एवं सचिव पॉल दयाल थे।²⁹

1942 की क्रांति के दौरान झारखंड की जनजातियाँ राष्ट्रीय आंदोलन के साथ कंधा से कंधा मिला कर राष्ट्रीय आंदोलन के साथ खड़ी दिखी। इसके पूर्व कांग्रेस के संगठनात्मक कार्य के कारण बड़ी संख्या में आदिवासी राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े। मेषा पहाड़िया एवं गांदा पहाड़िया को व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल जाना पड़ा था और आर्थिक दंड का दंश झेलना पड़ा। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान दामिन-ए-कोह में संधालों ने विदेशी शासन-प्रशासन की गतिविधियों को ठप कर दिया था। स्टेफन यूक्स ने लिखा है कि 'बंगाल और बिहार के क्रांतिकारियों को आदिवासी नेताओं से प्रेरणा मिली। उरांव, खरवार, मुंडा और टाना भगतों ने स्वतः स्फूर्त आंदोलन को नयी ऊँचाई दी। टाना भगतों ने गाँधीजी के विचारों एवं दर्शन का काफी प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने साम्राज्यवाद के प्रतीक यूनियन जैक को उतार फेंका और सरकारी कार्यालयों पर तिरंगा फहराया।

निष्कर्ष:

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में झारखंड के आदिवासियों की सहभागिता राष्ट्रीय स्तर के बड़े नेताओं से कमतर कभी भी नहीं रहा है, बल्कि दोनों के दर्शन में एक प्रकार का अंतर्संबंध दिखता है। प्रकृतिपूजक आदिवासियों ने अपने आंदोलन के दौरान जिन तत्वों का प्रयोग किया, कालांतर में वे सभी तत्व राष्ट्रीय आंदोलन के फलक पर दिखते हैं। हालांकि यह भी सत्य है कि इन तत्वों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया एवं इसके पीछे दस्तावेजी प्रमाण की अनुपलब्धता रहा है, परन्तु लौकिक एवं गीत

परम्परा में इन तत्वों पर पर्याप्त मात्र में लिखे गये हैं। ऐसे में आदिवासी आंदोलन के नेताओं की सोच एवं उनके दर्शन दूरदर्शी एवं तत्काल निर्णय लेने वाले सिद्ध हुए। उन्होंने बहुत जल्द ब्रिटिश शासन के औपनिवेशिक चरित्र को पहचान लिया था और जान देकर भी अपने प्रतिवाद के स्वर को जिन्दा रखा, जिसे पहचानने में राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को कई दशक लग गये और अंततः इसी के गर्भ से क्रांतिकारी आंदोलन ने जन्म लिया। आदिवासी आंदोलन के प्रारंभिक स्वरूप को भले ही ब्रिटिश सरकार के विकास एवं विस्तार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है, परन्तु उनके आंदोलन एवं उसके दर्शन ने राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा के तौर पर कार्य किया। जनजातीय प्रतिकार शोषकों से शोषित को बचा कर अबुआ राज स्थापित करने के लिए थी, जिसमें समानता एवं समतामूलक आर्थिक लोकतंत्र के तत्व थे, जो गाँधीवादी आर्थिक दर्शन के आधार हैं।

संदर्भ-ग्रंथ सूची:

- रणेन्द्र और सुधीर (संपादक), झारखंड इन्साक्लोपीडिया, भाग एक, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008, पृ० 11
- पूर्वोक्त, पृ० 159
- शुक्ल, रामलखन, आधुनिक भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1998, पृ० 187
- सरकार, सुमित (अनु० सुशीला डोवाल), आधुनिक भारत 1885-1947, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्संस्करण 2001, पृ० 63
- शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 268, सिंह, कुमार सुरेश, कोलोनियल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ द ट्राइबल सोसाइटी इन मिडिल ईंडिया, प्रोसिडिंग्स ऑफ द ईंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1977
- हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, 1997, पृ० 261 एवं पृ० 325
- पाण्डेय, शत्रुघ्न कुमार, झारखंड का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2017, पृ० 181
- पूर्वोक्त, पृ० 174
- पाण्डेय, शत्रुघ्न कुमार, झारखंड का इतिहास, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2018, पृ० 82
- हंटर, डब्ल्यू० डब्ल्यू०, दि अनल्स आफ रुरल बंगाल, स्मिथ इल्डर एंड कंपनी, लंदन, 1868, पुनःप्रकाशन, वेस्ट बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, गवर्नमेंट ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1996, पृ० 167
- हंटर, डब्ल्यू० डब्ल्यू०, पृ० 169, रणेन्द्र और सुधीर (संपादक), पूर्वोक्त, पृ० 149
- सिंह, अयोध्या, भारत का मुक्ति संग्राम, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2009, पृ० 299
- पाण्डेय, पूर्वोक्त, 2017, पृ० 180-81
- सिंह, कुमार सुरेश, बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० 69
- पूर्वोक्त, पृ० 122।
- पूर्वोक्त, पृ० 60
- पूर्वोक्त, पृ० 109
- पूर्वोक्त, पृ० 69
- राय, एस० सी०, मुंडा एंड देयर कन्ट्री, दि सिटी बुक हाउस, कलकत्ता, 1912, पृ० 203-04
- वीरोत्तम, बी० छोटानागपुर : इतिहास एवं संस्कृति, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2001, पृ० 22
- झा, जे० सी०, दि कोल इम्प्रेसन और छोटानागपुर, कलकत्ता, 1964, पृ० 1
- बासवी, तावेज जोम, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2003, पृ० 109-10
- पूर्वोक्त, पृ० 116, 123
- कुमार, एन० बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, राँची 1970, पृ० 71
- बासवी, पूर्वोक्त, पृ० 112-13
- शुक्ल, रामलखन, पूर्वोक्त, पृ० 185
- पाण्डेय, शत्रुघ्न कुमार, पूर्वोक्त, 2017, पृ० 187
- सुधीर और रणेन्द्र (संपादक), झारखंड इन्साक्लोपीडिया, पूर्वोक्त, पृ० 139
- पूर्वोक्त, पृ० 142, सिन्हा, एस० पी० द फर्स्ट बिरसा अपराइजिंग, पृ० 402
- पूर्वोक्त, पृ० 55

